समकालीन साहित्य विमर्श और दलित अस्मिता

डॉ सुजीत कुमार,

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,
दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट्स एंड कॉमर्स,
नेताजी नगर, नई दिल्ली–110023

मनुष्य एक संभावनाओं से भरपूर सामाजिक प्राणी है। प्रकृति में हर मनुष्य संभावनाओं से भरपूर पैदा होता है। वे लोग मनुष्य के दुश्मन कहे जाएंगे जो किसी भी रूप में मनुष्य की संभावनाओं पर रोक लगाएंगे। भारत की सममजिक व्यवस्था शोषण की अजायबघर जिसमें कुछ विशेष वर्ग का जाति आधारित शोषण जारी है। इसके लिए द्विजों ने चार युग (द्वापर,त्रेता,सतयुग,कलयुग), वेद, पुराण, स्मृतियाँ...आदि की रचना कर शुद्र, अतिशूद्र, अस्पृश्य की मनुष्य बनने की हर संभावना का सदियों तक कत्लेआम करते रहे। स्मृति काल में सारी हदों को पार करते हुए उन्होंने वेद मंत्र सुनने भर से कान में सीसा पिघलाकर डाल देना, बोलने भर से जीभ काट लेना, आँख फोड़ देना जैसे जघन्य अपराध किए फिर भी इनको पाप नहीं लगा ? इसके पीछे बड़ी सोची–समझी साजिस थी ? ताकि दलित अपनी सभ्यता और संस्कृति को ही भूल जाएं और वे अपनी मौखिक परम्परा को भी जीवित न रख सके। अपना ज्ञान– विज्ञान आने वाली पीढ़ियों को न दे सकें। उन्हें गूंगा–बहरा ही नहीं सभी तरह से पंगु बना दिया गया, क्योंकि सृजनकर्ता यही थे। अतः हम कह सकते हैं कि जब भी एक दलित की मृत्यु होती है उसके साथ अनेक कलाओं एवं रचनाओं की भी मृत्यु होती है। यह कार्य लगभग तीन हजार साल से लगातार चल रहा है और जब तथाकथित राष्ट्रवादी सरकार सत्ता पर काबिज होती है तो वैज्ञानिकता को नकारते हुए गाय, गोबर, मूत्र के साथ वेद, पुराण, स्मृतियों के काल को ही स्वर्ण काल के रूप में प्रक्षेपित ही नहीं करते वरन उन मूल्यों को पुनः स्थापित करने का प्रयास भी करते हैं। मूलतः यह दो संस्कृतियों की टकराहट है। जब वंचित समुदाय को इस युग में पढने–लिखने का अवसर मिला तो उन्होंने इसे कलयुग करार दिया। कलयुग के पाप (जाति व्यवस्था का ढीला होना, दलितों का शिक्षित होना. ..) को मिटाने के लिए कल्कि अवतार की कल्पना के साथ–साथ उसको आकार (चित्र बाजार में उपलब्द हैं) भी दे दिया तथा अन्य भगवानों की तरह इसे भी हथियारों लैस कर दिया है। द्विज की सोच शोषण के टूल्स को जीवित रखने तक सीमित रहती है। इसलिए द्विज (हिन्दू) मनुष्य नहीं, जातिवादी हैं क्योंकि जातिवाद मनुष्यता को नकारता है। 'दलित' एक मनुष्य है। इसके लिए वह लगातार तीन हजार साल से संघर्ष करता आ रहा है। उसे भी प्रकृति का भरपूर आनंद लेने, मुस्कराने और किलकारी मारने का बराबर हक है। ब्राह्मण उसे शूद्र और अछूत कहता है, कहता रहे, लेकिन दलित इस व्यवस्था पर हमेशा चोट करता रहा। आदि विद्रोही शम्बूक, एकलव्य से लेकर रविदास, कबीर, फुले, बिरसा, पेरियार और अम्बेडकर को मनुष्यता के संघर्ष के रूप में पढ़ना चाहिए। डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि 'जीवन को जगत में एक त्योहार माने और वर्ण व्यवस्था से शिकायत करने के बजाय उसके जनक से सीधे युद्ध करें।' दलित साहित्य आंदोलन मूलतः इन्ही सरोकारों से टकराता हुआ मनुष्यता को स्थापित करने की ओर अग्रसर है।

शायद वैदिक काल अपवाद रहा होगा ! क्योंकि वैदिक काल में योग्यता के कारण कोई भी

ब्राह्मण या ऋषि हो सकता था। ऋगवेद के एक मंत्र में किसी परिवार का एक सदस्य कहता है– 'मै एक कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता चक्की चलाने वाली हैं, भिन्न व्यवसायों से जीविकोपार्जन करते हुए वे एक साथ रहते हैं।' अगर ऋगवेद के पुरुषसूक्त के दसवें मण्डल की तरह प्रक्षिप्त न हो तो इससे समाज में किसी तरह के भेद–भाव का पता नहीं चलता है परन्तु व्यवसाय के आधार पर समाज में विभेदीकरण का आभास अवश्य मिलता है! संभवतःआगे चलकर पेशों ने जातिगत रूप और कर्म का स्थान जन्म ने ले लिया होगा तथा इस पर धर्म ने अपनी पक्की मुहर लगा दी। पुरुषसूक्त का मंत्र (चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति) समाज के विशेष विधान का ईश्वरीय आदेश बना दिया गया और मनुओं ("मनुस्मृति") ने इसका तोता रटंत पाठ दोहराते हुए उसकी पवित्रता को जरी रखा। इस तरह वर्ण तथा जाति व्यवस्था पूरी तरह कल्पित होते हुए सामाजिक यथार्थ की कठोर वास्तविकता बन गई जो आज भी एक बड़े समुदाय को मानवीय अधिकारों से वंचित किए हुए है। आज भी अस्पृश्यता एक रक्तबीज बना हुआ है। ऐसे में सवाल मनुष्यता के साथ–साथ राष्ट्र का भी है। राष्ट्र निर्माण में सामाजिक व्यवस्था की अहम भूमिका होती है। देश किस दिशा में आगे बढेगा सामाजिक व्यवस्था इसका एक बड़ा निर्धारक तत्व है। जैसा कि हम जानते हैं कि भारत की सामाजिक व्यवस्था जाति आधारित है जो हिन्दू धर्म की सामाजिक संरचना से पोषित होती है। यह सदियों से इस देश के लोगों की जीवन शैली और सोच बन चुकी है। इस देश की भौगोलिक सीमा में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक रूप से जाति का सदस्य होता है। यहां के लोगों का आर्थिक स्तर और ज्ञान भण्डार बदलता रह सकता है लेकिन एक बार जिस जाति की मुहर लग गई वह कभी नहीं बदल सकती। यह गुलामी की सम्पूर्ण व्यवस्था है। रमणिका गुप्ता के शब्दों 'इसका प्रभाव व्यक्ति के शारीर से लेकर आत्मा और जन्म से लेकर मृत्यु तक बना रहता है.....यह भारतीय समाज के इतिहास की प्रत्येक अवस्था के अनुरूप बनकर आज तक जीवित है। यह जनपदीय, सामंती और पूंजीवादी अवस्था में जीवित रही है।'

जितनी पुरानी हिन्दू जाति–व्यवस्था है, इसके खिलाफ प्रतिरोध की संस्कृति भी उतनी ही पुरानी है। प्रतिरोध की यह मशाल आदि विद्रोही शंबूक, एकलव्य.... से होते हुए फुले, पेरियार और डॉ. अम्बेडकर तक आते–आते ज्वाला बन चुकी। यह ज्वाला साहित्य, समाज और राजनीति...सभी स्तरों पर दिखाई देती है। दलित साहित्य में यह चिंगारी लाईट हाउस की तरह दिखाई देती है। वैसे बुद्ध पहले व्यक्ति थे जिन्होंने ढाई हजार वर्ष पूर्व इस व्यवस्था पर जबरदस्त प्रहार किया। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में 'श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनित नामक शोषित भंगी को अपने संघ में शामिल करके गौतम बुद्ध ने दलितोद्धार का ऐतिहासिक कदम उठाया।' इससे ब्राह्मणवादी हिन्दू समाज में तूफान आ गया और सभी स्तरों पर उसकी धार को कुंद करने का प्रयास किया गया। इसके बाद मध्य काल में संत कवियों– कबीर, रविदास, नानक...ने सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर इस अमानवीय व्यवस्था का विरोध किया। संत रविदास का यह कहना की 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' व्यवस्था के प्रति विद्रोह की ही अभिव्यक्ति है। विरोध–प्रतिरोध की यह अविरल धारा आधुनिक भारत में ज्वाला बन आंदोलन के रूप में सबसे पहले महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में प्रज्वलित हुई। इसका मुख्य उद्देश्य समाज के उन तबकों को मानवाधिकारों के साथ–साथ सामाजिक और राजनैतिक अधिकार दिलाना था। मूलतः यह दलित आंदोलन न होकर दलित– पिछड़े (बहुजन) लोगों की जागृति का परिणाम था। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले, आंध्र में एरिगे राधास्वामी और तमिलनाडु में स्वामी पेरियार नायकर इन आंदोलनों के जनक थे। डॉ. अम्बेडकर के आने तक दलित आंदोलन अपने

अंतर्विरोधों और दुविधाओं से ग्रस्त थे तथा अपने–अपने स्तर पर दलित नेता सामाजिक बदलाव के लिए प्रयत्नशील थे। डॉ. अम्बेडकर ने जहां 20 मार्च 1927 को 'चवदार तालाब सत्याग्रह' कर इंसानियत और समानता का संदेश दिया तो 25 दिसंबर 1927 को हिन्दू समाज व्यवस्था के आधार स्तंभ 'मनुस्मृति' को जलाकर समता आधारित सामाजिक पुनर्रचना की मांग के साथ ही दलित आंदोलन का क्रांतिकारी रूप सामने आया। उन्होंने समाज में फैली अमानवीय व्यवस्था से लड़ने के लिए स्वनेतृत्व विकसित करने के साथ एक मूल मंत्र 'शिक्षित हो, संगठित हो और संघर्ष करो' दिया। यह दलितों के लिए 'भीमवाक्य' बन गया है। इसकी उर्जा से भारत में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का सूत्रपात हुआ।

'दलित' शब्द आधुनिक है। यह शब्द आंदोलन, अस्मिता, संघर्ष और मानवाधिकार का प्रतीक बन गया है। गाँधी ने जिसे 'हरिजन', श्री मगोट ने 'अस्पृश्य' और डॉ. अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत' व 'अछूत' कहा वही वर्ग आज अपने को गर्व से दलित कहता है। प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त शूद्र, अतिशूद्र, चांडाल, अंत्यज आदि शब्द दलित शब्द के पुरखे हैं, जो सामाजिक यथार्थ को दर्शाते हैं। आज हम यह कह सकते है कि भारत की वर्ण व्यवस्था जिन्हें सामाजिक सम्मान का अधिकार व विकास का अवसर प्रदान नहीं करती, वही 'दलित' है। स्वातंत्रयोत्तर काल में वर्ण व्यवस्था की मान्यताओं का संकुचन हुआ तो दलित अवधारणा का विस्तार हुआ। आज–कल न केवल 'दलित' शब्द का प्रचलन प्रमुख रूप से होने लगा है अपितु दूसरी किसी भी समानार्थक संज्ञा के प्रति तीव्र नकार देखने में आ रहा है। अमेरिकी विदुषी एलानोर जिलिएट कहती हैं कि 'दलित एक सामान्य पहचान है उन भारतीय लोगों की जो सामाजिक रूप से अछूत, शूद्र, बहिष्कृत, उत्पीड़ित, दबे और पिछड़े हैं।' अर्थात दलित शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। बहुत से विद्वानों ने इसे परिभाषित किया। मराठी विद्वान् नामदेव ढसाल के अनुसार 'अनुसूचित जातियां, बौद्ध, श्रमिक, भूमिहीन, कृषक, व भटकने वाली सभी जातियां दलित हैं', तो ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार 'दलित शब्द दबाए गए, शोषित–पीड़ित तथा प्रताड़ित के लिए प्रयुक्त होता है।' ये परिभाषाएं एक संतुलित और व्यापकता लिए हुए हैं। इस प्रकार सदियों की पीड़ा और अस्मितागत आत्ममंथन से निकला शब्द दलित एक समुदाय विशेष का बोध करने के साथ–साथ वेदना, आक्रोश और आमूल परिवर्तन की आकांक्षा का वाहक बना। जिसे सदियों से शोषित, उपेक्षित तथा अन्य घृणित नामों से विहित कर घृणा, हिकारत, निरीह, और दया का पात्र बना दिया गया था, वही आज प्रखर आत्मबोध के साथ इन सड़ी–गली शब्दावलियों को ठुकराकर स्वयं दलित के रूप में अपनी पहचान और अस्मिता बोध को साहित्य, समाज और राजनीति के स्तर पर करा रहा है। आज यह जातीय एकता का प्रतीक बन गया है। वर्तमान सरकार और कुछ राज्य सरकारों के इस शब्द के प्रयोग के नकार में इसकी ताकत और इसके सामाजिक निहितार्थ को बखूबी समझा सकता है।

साहित्य संस्कृति का संवाहक होकर युगीन समय और परिवेश के साथ छाया की तरह चलता रहा है, जैसा युग वैसा साहित्य। इस लिए युग मानस में उठाने वाले विचार साहित्य में पाए जाते हैं और उसी में युग विशेष का परिचय मिलता है। परिवर्तन की लीक जितनी तेजी से साहित्य ग्रहण करता है उतना और कोई नहीं, क्योंकि साहित्य का संबंध मनीषा से होता है जो परिवर्तन की पहली आहट सुनती और सुनाती है। लेकिन भारत के मुख्य धारा का साहित्य जातीय गर्व और विद्रूपताओं से भरा हुआ है। एक बड़े तबके का समाज, साहित्य और अन्य मानवीय अधिकारों से वंचित कर देना कहां का न्याय है? दलित साहित्य के उभार के साथ ही हिंदी साहित्यकारों में दलित प्रेम जाग गया? फिर दलित साहित्य पर प्रश्न उठना लाजमी है।

मसलन दलित साहित्य क्या है? या इसकी अवधारणा क्या है? परम्परावादी समीक्षकों, आचार्यों ने साहित्य को जिस तरह से परिभाषित किया है, उसमे 'सहित' का होना अनिवार्य है। चूँकि साहित्य का संबंध मानव समाज से है, इस लिए साहित्य को संपूर्ण समाज के लिए हितकर होना चाहिए। किन्तु परंपरागत हिंदी साहित्य इस परिभाषा की परिधि से बाहर है। साहित्य की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि उसे सम्पूर्ण समाज के उत्थान और कल्याण में सहायक होना चाहिए। दूसरे शब्दों में बिना किसी भेदभाव के मानवीयता की पक्षधरता साहित्य की सर्वोच्च कसौटी होनी चाहिए और यही उसका मूल्य भी। जय प्रकाश कर्दम के शब्दों में 'साहित्य को पुरे समाज की आवाज होना चाहिए जो प्रताड़ित और उपेक्षित है तथा हाशिए पर है। केवल पीड़ा या दर्द ही नहीं उनका आक्रोश और संघर्ष भी साहित्य का स्वर होना चाहिए।' इस दृष्टि से दलित साहित्य की उपस्थिति कबीर की तरह हमेशा ही प्रासंगिक रहेगी। इसी सन्दर्भ में डॉ. धर्मवीर लिखते हैं कि 'दलित साहित्य की परिभाषा में दलित के स्वप्न, दलित की कल्पना और दलित के ख्याल को छोड़ा नहीं जा सकता द्य यदि दलित साहित्यकार रूढ़ हो गए इस 'दलित साहित्य' की परिभाषा से कोई बड़ी संभावना ले कर उतर रहा है तो एक सही शब्द के आभाव में चिन्तन को रोका नहीं जा सकता।' इससे स्पष्ट है कि दलित साहित्य 'मैं' का नहीं बल्कि 'हम' का साहित्य है। इसका केंद्र बिंदु मानव है और मानव के इर्द–गिर्द घूमता है। इसमे परोक्ष या कल्पना जगत की हवाई बातें कम और यथार्थ की सच्चाई अधिक है। यह कहना गलत नहीं होगा कि अनुभूति की प्रमाणिकता दलित साहित्य का वास्तविक सत्य है, क्योंकि दलित लेखक घटना–परिघटना का स्वयं साक्षी है। इसका अंतिम लक्ष्य मानवीय समता के सम्मान को प्राप्त करना है।

'दलित साहित्य' को लेकर अब भी दबी जुबान से ही सही वही घिसे–पिटे सवाल खड़े किए जाते हैं जो दलित साहित्य के शुरूवाती दौर में किए जाते थे। मसलन साहित्य का विभाजन दलित या गैर दलित में किया जा सकता है? या फिर दलित साहित्य केवल दलित ही लिख सकता या गैर दलित भी? सवाल सौंदर्यशास्त्र को लेकर भी बना हुआ है? दलित साहित्य के लेखन के सन्दर्भ में डॉ. धर्मवीर का स्पष्ट मत है कि 'दलित साहित्य की वह परिभाषा एकदम खतरनाक है जिसमे इस बात की गुंजाईश रखी जाती है कि गैर–दलित भी दलित साहित्य की रचना कर सकता है।...लेकिन यह प्रतिनिधित्व का मामला है और दलित का पवित्र प्रतिनिधित्व दलित के सिवा कोई दूसरा नहीं कर सकता।' डॉ. धर्मवीर की इस बात से असहमति की संभावना न के बराबर है और इसी में अन्य प्रश्नों के उत्तर छिपे हुए हैं। उन्ही के शब्दों में 'दलित साहित्य वह है जिसे दलित लेखक लिखता है। वह श्रेष्ठ या कम श्रेष्ठ साहित्य लिख सकता है लेकिन शर्त यह है कि गैर–दलित लेखक कैसा भी दलित साहित्य नहीं लिख सकता। दलित साहित्य के मूल्यांकन की मनाही नहीं है, समीक्षक यह निर्णय दे सकता है कि कौन सी रचना दलित साहित्य की श्रेष्ठ रचना है, लेकिन उसे यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि वह किसी गैर–दलित लेखक की रचना को दलित साहित्य की रचना मान ले।...उसे दलित के पक्ष में लिखा गया 'हिन्दू साहित्य' कहा जा सकता है लेकिन 'दलित साहित्य' नहीं।'

आज तक यह बात समझ से परे है कि शुद्र और अछूत अर्थात बहुजन आपस में भेद–भाव क्यों करते हैं? इसके शास्त्रीय प्रमाण भी नहीं है। चमार, भंगी, यादव.....के पास कोई वेद नहीं की वह एक दुसरे से छुआछूत बरते। यह ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा नियंत्रित और निर्मिती है। दलित–बहुजन आज भी इस खेल को समझ नहीं पाया है। इसके अंतर्विरोध समाज में खुल कर दिखाई देते हैं। दलित साहित्यकार यहां फेल हो जाते हैं। दलित आत्मकथाओं में इस बात का

खुल कर विवेचन किया है। दलित साहित्य को ब्राह्मणवाद की आलोचना के बजाय अपनी उर्जा आपसी भेद–भाव व अंतर्विरोध को मिटाने में करनी चाहिए। इसके लिए सशक्त हथियार साहित्य है और इस निमित्त साहित्य रचना होना जरुरी है। हम जानते हैं कि बाकी समाज बुराइयों की वकालत नहीं करता लेकिन ब्राह्मण अपने वेद–शास्त्रों के प्रमाण उद्धृत करता हुआ छुआछुत और अपराधों के पक्ष में अड़ता है। डॉ. धर्मवीर के शब्दों में 'ब्राह्मण और बाकी समाज की बुराइयों में अंतर यह है कि जबकि बाकी समाज की बुराइयां लौकिक हैं, ब्राह्मण की बुराइयां वैदिक और धार्मिक हैं।' अतः इसके लौकिक पक्ष पर तार्किक और वैज्ञानिक कुल्हाड़ी से बार–बार प्रहार करना चाहिए। ब्राहमणवाद के खिलाफ लड़ने वालों को इन्होंने खलनायक बना दिया, आज वही दलित साहित्य के नायक हैं। यह सिर्फ बदले की भावना से नहीं बल्कि बौद्धिक और तार्किक आधार पर नायक ठहरते हैं न कि परंपरा पोषित भगवानों, राम, कृष्ण, मनु आदि। दलित साहित्य की विशेषता यह है कि हिन्दू साहित्य के विश्वकोष रामायण और महाभारत में से यह अपने कथानक नहीं चुन सकता। क्योंकि ये उसके साहित्यिक ग्रंथ नहीं हैं? किसी भी साहित्य को प्रेरणा अपनी परम्परा से ही मिलती है। 'वाल्मीकि' और 'व्यास' जैसे विदेशी संस्कृत निष्ठ शब्द ही प्रमाण हैं। दलित जुबान में इनका सहज सरल उच्चारण 'बालमीक' और 'बियास' ही हो सकता है न कि 'वाल्मीकि' और 'व्यास'। इससे सहज ही महर्षि 'वाल्मीकि' और 'व्यास' के समाजशास्त्र को समझा जा सकता है। यह बात दलित चिंतकों को भी समझनी होगी !

दलित साहित्य ब्राह्मणवादी मिथकों को तोड़ते हुए नए मिथक गढ़ रहा है। उसके लिए राम, कृष्ण आदि परम्परा के पोषकों का कोई महत्व नहीं हैं। दलित दृष्टिकोण से तो राम और कृष्ण सबसे बड़े जातिवादी ठहरते हैं। 'शंबूक' का वध राम की तथाकथित मर्यादा भंग करने के कारण हुई? डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में 'शंबूक कोई चोरी डकैती करता नहीं मारा गया था, बल्कि वह शूद्र होकर पुण्यात्मा बनने के सपने देखने लगा था।' वस्तुतः शूद्र को अपने समान न आने देने की मानसिकता भारत के तथाकथित सवर्ण समाज में सदियों से व्याप्त रही है, जो आज भी किसी न किसी रूप में कायम है। शिक्षण संस्थान और अकादमिया इससे अछूती नहीं हैं बल्कि गढ़ बनी हुई है। नाक–भौं सिकोड़ने की जरूरत नहीं है ? आरक्षण के सवाल पर इस मानसिकता को आसानी से समझ सकते हैं। आज के भारतीय समाज की विडंबना यह है कि जिस द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अंगूठा काट लिया था, आज उसके नाम पर प्रशिक्षक का पुरस्कार दिया जाता है? जो भी हो आदर्श गुरु का भ्रम टूट रहा है। देवियां विशेषकर विद्या की देवी सरस्वती, शक्ति की दुर्गा और काली भी शक के दायरे में हैं? इन सबको बनाए रखने में धर्मग्रंथो की महती भूमिका रही है। दलितों के लिए ये ग्रंथ कूड़े के समान हैं। आज 'गीता' और 'रामचरितमानस' भी नकारे जा रहे हैं। 'गीता' को न्याय और नीति का सर्वोच्च ग्रंथ माना जाता है। इसका सार्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है 'निष्काम कर्मयोग' अर्थात बिना फल की कामना किए कर्म करना। पढ़ने और सुनने में यह सिद्धांत अच्छा लगता है। किन्तु इसकी गहराई में जाए तब कुछ और भी समझ आता है? एक गरीब मजदूर किसी के खेत या मील में काम करता है। 'गीता' में इसके लिए निर्देश है कि बस कर्म कर, अपनी पूरी क्षमता और निष्ठा से मेहनत कर। कितनी मजदूरी मिलेगी या मिलनी चाहिए इसकी चिंता मत कर। बताइए किसने धर्म और न्याय का पालन नहीं किया? परिणाम हमारे सामने है! एक तरफ निष्काम ने दलितों को बंधुआ मजदुर बना दिया और झुग्गी–झोपड़ी में भूखे–नंगे रहने को अभिशप्त कर दिया तो दूसरी तरफ इसका खामियाजा देश को गुलामी के रूप में भुगतना पड़ा। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में 'तरह

तरह के नियम रचे गए– वीरता के आदर्शों के। कुल मिलाकर क्या परिणाम निकले? पराजय, निराशा, निर्धनता, अज्ञानता, संकीर्णता, कूपमंडूकता, धार्मिक जड़ता, कर्मकाण्डों में जकड़ा समाज जो टुकड़ों में बटकर कभी यूनानियों से हारा, कभी शकों, हूणों, अफगानों, मुगलों और कभी अंग्रेजों से हारा। फिर भी अपनी वीरता और महानता के नाम पर कमजोर और असहायों को पिटते रहे। आत्म–स्लाघा में डूबकर सच्चाई से मुंह मोड़ लेना, इतिहास से सबक न लेना, आखिर किस राष्ट्र के निर्माण की कल्पना है?' क्या वाकई यह गौरव योग्य है? वर्तमान में भी आत्म–स्लाघा कुलांचे मार रही है?

ऐसे में ब्राहमणवाद की ताकत को कम आंकने की गलती नहीं करनी चाहिए। बल्कि पुरे दम–खम, उर्जा और रणनीति के साथ इन सवालों पर अपने निर्मित टूल्स से प्रहार करना होगा। इसलिए दलित साहित्य वैज्ञानिक और तार्किक आधार पर हितकर–अहितकर समझते हुए मिथकीय चरित्रों, धर्म ग्रंथों तथा धर्म उन्नायकों को नकारते हुए सामाजिक समता, भाईचारे और बंधुत्व की स्थापना को महत्व दिया। इसके लिए दलित साहित्यकार अपने मिथक खुद रचता है और ये उनके प्रेरणास्रोत होते हैं। मनुष्य को समता का पाठ पढ़ाने वाले उन्नायकों बुद्ध, कबीर, नानक, रैदास, अछूतानन्द, फुले, पेरियार और डॉ. अम्बेडकर आदि हैं। ये नायक भगवान नहीं है, कल्पित भी नहीं है। ये वास्तविक महानायक हैं जिनका प्रचुर साहित्य और संघर्ष प्रेरणादायी उर्जा देता है। इसलिए इतिहास में उपेक्षित इन नायकों को दलित इतिहास में स्थापित कर उनके प्रेरणा और शक्ति कामी विचारों को अगली पीढ़ी के लिए ही नहीं बल्कि सदियों तक के लिए सुरक्षित करना हैं। ताकि मनुष्यता पर कभी आंच न आ सके।

इस उद्देश्य की प्राप्ति परम्परागत सौंदर्यशास्त्र से संभव नहीं होगी? परम्परागत हिंदी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का आधार 'सत्यम–शिवम्–सुन्दरम्' है। लेकिन हिंदी साहित्य में 'सत्यम' घोर असत्यम है। मूलतः जिस सत्य पर गौरव किया जाता है, 'सत्यमेव जयते' कहा जाता है। क्या वह सत्य है? यथा– 'चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति' अर्थात मुख से ब्राह्मण... और पैर से शूद्र का जन्म? गत जन्म में पाप किया था इसलिए इस जन्म में शूद्र का जन्म मिला? यदि यह सत्य होगा तभी 'शिव' होगा? हिन्दू धर्मशास्त्र ने दलित के स्पर्श, छाया और वाणी को अस्पृश्य माना है द्यस्पर्श से मनुष्य ही नहीं अपितु ईश्वर भी अपवित्र हो जाता है। यह शिव का कैसा रूप है? जब शिव होगा ही नहीं तो वह कैसे सुन्दर हो सकता है? वह असुंदर ही होगा। दलित गाँव के बाहर रहे, उनके नाम अमंगल सूचक हों, वे वेद न पढ़ सकें, संस्कृत न सीख सकें....। क्या यह 'सुन्दर' है? यह 'सत्यम–शिवम्–सुन्दरम्' परम्परावादियों को ही मुबारक हो! शरण कुमार लिम्बाले के शब्दों में 'मनुष्य सर्वप्रथम मनुष्य है। यही सत्य है। मनुष्य की स्वतंत्रता ही शिव है और मनुष्य की मनुष्यता ही सौन्दर्य है।' दलित साहित्यकार मनुष्य को केंद्र में रखकर साहित्य के प्रयोजन को देखते हैं। इस लिए परम्परागत सौंदर्यशास्त्र को नकार कर अपना सौंदर्यशास्त्र विकसित करने की ओर अग्रसर है। दलित साहित्य मनाता है कि प्रत्येक वह कार्य या उसके करने का तरीका सौन्दर्यपूर्ण है, जिसे मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी के लिए किया या अख्तियार किया जाए। दलित को तन–बदन का सौन्दर्य उसके फटे–नुचे चीथड़ों या गंधाती उतरन में, घर का सौन्दर्य घास–फूस से बनी झुग्गी–झोपड़ी, गोबर से लिपे–पुते आँगन में, भोजन का सौन्दर्य उसे नमक–प्याज–चटनी के साथ रुखी–सुखी रोटी खाने में दिखाई देता है। अर्थात दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र श्रम का सौन्दर्यशास्त्र है। डॉ.एन.सिंह दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं 'दलित साहित्य का शब्द–सौन्दर्य प्रहार

में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में सदियों से चली आ रही सड़ी–गली परम्पराओं पर बेदर्दी से चोट करता है। वह सर पर पत्थर ढोने वाले दलित को अधिकार के लिए लड़ना सिखाता है। उसे धर्म की भूल–भुलैया से निकालकर शोषण से मुक्ति का मार्ग दिखता है। यही दलित साहित्य का शिल्प सौन्दर्य है।' दलित साहित्यकार को प्रकृति नए रूपों में दिखती है। उसे चाँद नायिका के मुख सदृश्य नहीं अपितु भूख से बिलबिलाते व्यक्ति की रोटी सदृश्य दिखाई देता है। वह सूरज को देवता नहीं, समता क्रांति का प्रखर प्रहरी मानकर चित्रण करता है। दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र साहित्यिकता का मोहताज नहीं, अपितु उसकी जीवनदायनी शक्ति है– घटनाओं की जीवंतता व उसकी प्रमाणिकता तथा इसका प्रयोजन है– दलित चेतना व सामाजिक न्याय की भावना का निरंतर विकास।

कुल मिलाकर वर्तमान समय में दलित साहित्य के स्वरूप, उसके परिप्रेक्ष्य व सन्दर्भों के संबंध में अब अधिक तर्क–वितर्क की संभावना नहीं है। कहने वाले कहते रहें यहां तक कि नामी–गिरामी व स्वनाम धन्य आलोचक भी कुछ कहें तो इग्नोर कर देना ही हितकर होगा द्यदलित चिंतन को स्वतंत्र, मुक्त और इतिहास चिंतन की ओर जाना है। दलित साहित्य कोई अजूबा नाम नहीं बल्कि नवयुग का स्थापित, व्यापक, वैज्ञानिक व यथार्थपरक संवेदनशील साहित्यिक हस्तक्षेप है। साथ ही यह तर्क संगत, वैज्ञानिक परम्पराओं और पूर्वाग्रहों से मुक्त साहित्यिक सृजन है। दलित साहित्य सृजन में चेतना कीअपरिहार्यता व उपयोगिता आवश्यक नहीं बल्कि अपरिहार्य है। इसी मे दलित अस्मिता व अस्तित्व का संघर्ष शब्दों के माध्यम से आकार पाता है। आकार श्रम की संस्कृति और उसके महत्व को रेखांकित करने में है।

"कभी सोचा क्या?

आपने–

उन पौधों के बारे में,

जिनके नीचे की जमीन ही

छीन ली गई?"

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आनंद वास्कर, हिंदी साहित्य में दलित चेतना, विद्या विहार, कानपुर–1986
2. डॉ.बी.आर. अम्बेडकर, डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली–1998
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली– 1999
4. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली–2001
5. डॉ. एन. सिंह (सं), शिखर की ओर, माता प्रसाद अभिनन्दन ग्रंथ समिति, दिल्ली–1997
6. ए.एल. बाशम, अदभुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा–1963
7. जय प्रकाश कर्दम (सं), दलित साहित्य वार्षिकी, दिल्ली, 1999–2012
8. डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली–1995
9. एम. के. गाँधी सम्पूर्ण वांगमय, प्रकाशन विभाग, दिल्ली–1964
10. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1979

11. राजकिशोर (सं), हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली– 1995
12. रमणिका गुप्ता (सं), दलित चेतना सोच, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग–1998
13. शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली–2000
14. डॉ धर्मवीर, दलित चिंतन का विकास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली–2008

Copyright © 2017 *Dr. Sujeet Kumar*. This is an open access refereed article distributed under the Creative Common Attribution License which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.